कनुप्रिया

▫ ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रंथमाला हिन्दी-ग्रंथाङ्क ८६

सोनम० के लिए

कनुप्रिया

धर्मवीर भारती

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

अनुक्रम

ऐसे तो क्षण होते ही हैं जब लगता है कि इतिहास की दुर्दान्त शक्तियाँ अपनी निर्मम गति से बढ़ रही हैं, जिनमें कभी हम अपने को विवश पाते हैं, कभी विक्षुब्ध, कभी विद्रोही और प्रतिशोधयुक्त, कभी वल्गायें हाथ में लेकर गतिनायक या व्याख्याकार, तो कभी चुपचाप शाप या सलीब स्वीकार करते हुए आत्मबलिदानी उद्धारक या त्राता······लेकिन ऐसे भी क्षण होते हैं जब हमें यह लगता है कि यह सब जो बाहर का उद्वेग है—महत्त्व उसका नहीं है—महत्त्व उसका है जो हमारे अन्दर साक्षात्कृत होता है—चरम तन्मयता का क्षण जो एक स्तर पर सारे बाह्य इतिहास की प्रक्रिया से ज्यादा मूल्यवान सिद्ध हुआ है, जो क्षण हमें सीपी की तरह खोल गया है—इस तरह कि समस्त बाह्य—अतीत, वर्तमान और भविष्य—सिमट कर उस क्षण में पुंजीभूत हो गया है, और हम हम नहीं रहे!

प्रयास तो कई बार यह हुआ है कि कोई ऐसा मूल्य-स्तर खोजा जा सके जिस पर ये दोनों ही स्थितियाँ अपनी सार्थकता पा सकें—पर इस खोज को कठिन पाकर दूसरे आसान समाधान खोज लिये गये हैं—मसलन् इन दोनों के बीच एक अमिट पार्थक्य रेखा खींच देना—और फिर इस बिन्दु से खड़े होकर उस बिन्दु को, और उस बिन्दु से खड़े होकर इस बिन्दु को मिथ्या भ्रम घोषित करना।········या दूसरी पद्धति यह रही है कि पहले वह स्थिति जी लेना, उसकी तन्मयता को सर्वोपरि मानना—और बाद में दूसरी स्थिति का सामना करना, उसके समाधान की खोज में पहली को बिलकुल भूल जाना। इस तरह पहली को भूल कर दूसरी और दूसरी से अब फिर पहली की ओर निरन्तर हटते बढ़ते रहना—धीरे-धीरे

इस असंगति के प्रति न केवल अभ्यस्त हो जाना वरन् इसी असंगति को महानता का आधार मान लेना। (यह घोषित करना कि अमुक मनुष्य या प्रभु का व्यक्तित्व ही इसीलिए असाधारण है कि वह दोनों विरोधी स्थितियाँ बिना किसी सामंजस्य के जी सकने में समर्थ है।)

लेकिन वह क्या करे जिसने अपने सहज मन से जीवन जिया है, तन्मयता के क्षणों में डूब कर सार्थकता पायी है, और जो अब उद्घोषित महानताओं से अभिभूत और आतंकित नहीं होता बल्कि आग्रह करता है कि वह उसी सहज की कसौटी पर समस्त को कसेगा।

ऐसा ही आग्रह है कनुप्रिया का!

लेकिन उसका यह प्रश्न और आग्रह उसकी प्रारम्भिक कैशोर्य-सुलभ मनस्थितियों से ही उपज कर धीरे-धीरे विकसित होता गया है। इस कृति का काव्यबोध भी उन विकास-स्थितियों को उनकी ताजगी में ज्यों का त्यों रखने का प्रयास करता चलता है। पूर्वराग और मंजरी-परिणय उस विकास का प्रथम चरण, सृष्टि-संकल्प द्वितीय चरण तथा महाभारत काल से जीवन के अन्त तक शासक, कूटनीतिज्ञ, व्याख्याकार कृष्ण के इतिहास-निर्माण को कनुप्रिया की दृष्टि से देखने वाले खण्ड—इतिहास तथा समापन इस विकास का तृतीय चरण चित्रित करते हैं।

लेखक के पिछले दृश्यकाव्य में एक बिन्दु से इस समस्या पर दृष्टिपात किया जा चुका है—गान्धारी, युयुत्सु और अश्वत्थामा के माध्यम से। कनुप्रिया उनसे सर्वथा पृथक—बिल्कुल दूसरे बिन्दु से चलकर उसी समस्या तक पहुंचती है, उसी प्रक्रिया को दूसरे भावस्तर से देखती है और अपने अनजान में ही प्रश्न के ऐसे संदर्भ उद्घाटित करती है जो पूरक सिद्ध होते हैं। पर यह सब उसके अनजान में होता है क्योंकि उसकी मूलवृत्ति संशय या जिज्ञासा नहीं, भावाकुल तन्मयता है।

कनुप्रिया की सारी प्रतिक्रियाएं उसी तन्मयता की विभिन्न स्थितियां हैं।

●

पूर्वराग

पहला गीत

ओ पथ के किनारे खड़े
छायादार पावन अशोक-वृक्ष
तुम यह क्यों कहते हो कि
तुम मेरे चरणों के स्पर्श की प्रतीक्षा में
जन्मों से पुष्पहीन खड़े थे

तुमको क्या मालूम कि
मैं कितनी वार केवल तुम्हारे लिये—
धूल में मिली हूं
धरती में गहरे उतर
जड़ों के सहारे
तुम्हारे कठोर तने के रेशों में
कलियां बन, कोंपल बन, सौरभ बन, लाली बन—
चुपके से सो गयी हूं
कि कब मधुमास आये और तुम कब मेरे
प्रस्फुटन से छा जाओ!

फिर भी तुम्हें याद नहीं आया, नहीं आया,
तब तुमको मेरे इन जावक-रचित पांवों ने
केवल यह स्मरण करा दिया कि मैं तुम्हीं में हूं
तुम्हारे ही रेशे-रेशे में सोयी हुई—
और अब समय आगया कि
मैं तुम्हारी नस-नस में पंख पसार कर उड़ूंगी
और तुम्हारी डाल-डाल में गुच्छे-गुच्छे लाल-लाल
कलियां बन खिलूंगी!

ओ पथ के किनारे खड़े
छायादार पावन अशोक-वृक्ष
तुम यह क्यों कहते हो कि
तुम मेरी ही प्रतीक्षा में
कितने ही जन्मों से पुष्पहीन खड़े थे!

दूसरा गीत

यह जो अकस्मात्
आज मेरे जिस्म के सितार के
एक-एक तार में तुम झंकार उठे हो—
सच बतलाना मेरे स्वर्णिम संगीत
तुम कब से मुझ में छिपे सो रहे थे।

सुनो, मैं अक्सर अपने सारे शरीर को—
पोर-पोर को अवगुण्ठन में ढँक कर तुम्हारे सामने गयी
मुझे तुमसे कितनी लाज आती थी,
मैंने अक्सर अपनी हथेलियों में
अपना लाज से आरक्त मुँह छिपा लिया है
मुझे तुमसे कितनी लाज आती थी
मैं अक्सर तुमसे केवल तम के प्रगाढ़ पर्दे में मिली
जहाँ हाथ को हाथ नहीं सूझता था
मुझे तुमसे कितनी लाज आती थी,

पर हाय मुझे क्या मालूम था
कि इस वेला जब अपने को
अपने से छिपाने के लिए मेरे पास
कोई आवरण नहीं रहा
तुम मेरे जिस्म के एक-एक तार से
झंकार उठोगे

सुनो! सच बतलाना मेरे स्वर्णिम संगीत
इस क्षण की प्रतीक्षा में तुम
कब से मुझमें छिपे सो रहे थे!

तीसरा गीत*

घाट से लौटते हुए
तीसरे पहर की अलसाई वेला में
मैंने अक्सर तुम्हें कदम्ब के नीचे
चुपचाप ध्यानमग्न खड़े पाया,
मैंने कोई अज्ञात वनदेवता समझ
कितनी बार तुम्हें प्रणाम कर सिर झुकाया
पर तुम खड़े रहे, अडिग, निर्लिप्त, वीतराग, निश्चल!
तुमने कभी उसे स्वीकारा ही नहीं!

दिन पर दिन बीतते गये
और मैंने तुम्हें प्रणाम करना भी छोड़ दिया
पर मुझे क्या मालूम था कि वह अस्वीकृति ही
अटूट बन्धन बन कर
मेरी प्रणाम-बद्ध अंजलियों में, कलाइयों में इस तरह
लिपट जायगी कि कभी खुल ही नहीं पायेगी

और मुझे क्या मालूम था कि
तुम केवल निश्चल खड़े नहीं रहे
तुम्हें वह प्रणाम की मुद्रा और हाथों की गति
इस तरह भा गयी कि
तुम मेरे एक-एक अंग की एक-एक गति को
पूरी तरह बांध लोगे

इस सम्पूर्ण के लोभी तुम
भला उस प्रणाम मात्र को क्यों स्वीकारते ?
और मुझ पगली को देखो कि मैं
तुम्हें समझती थी कि तुम कितने वीतराग हो
कितने निर्लिप्त !

चौथा गीत

यह जो दोपहर के सन्नाटे में
यमुना के इस निर्जन घाट पर अपने सारे वस्त्र
किनारे रख
मैं घण्टों जल में निहारती हूं

क्या तुम समझते हो कि मैं
इस भाँति अपने को देखती हूं ?

नहीं मेरे सांवरे!
यमुना के नीले जल में
मेरा यह वेतस लता सा कांपता तन-बिम्ब, और उसके चारों
और सांवली गहराई का अथाह प्रसार, जानते हो
कैसा लगता है—

मानो यह यमुना की सांवली गहराई नहीं है
यह तुम हो जो सारे आवरण दूर कर
मुझे चारों ओर से कण-कण रोम-रोम
अपने श्यामल प्रगाढ़ अथाह आलिंगन में पोर-पोर
कसे हुए हो!

यह क्या तुम समझते हो
घण्टों— जल में—मैं अपने को निहारती हूं
नहीं मेरे सांवरे!

पाँचवाँ गीत

यह जो मैं गृहकाज से अलसा कर अक्सर
इधर चली आती हूँ
और कदम्ब की छाँह में शिथिल, अस्तव्यस्त
अनमनी सी पड़ी रहती हूँ........

यह पछतावा अब मुझे हर क्षण
सालता रहता है कि
मैं उस रास की रात तुम्हारे पास से लौट क्यों आयी?
जो चरण तुम्हारे वेणुवादन की लय पर
तुम्हारे नील जलज तन की परिक्रमा देकर नाचते रहे
वे फिर घर की ओर उठ कैसे पाये

मैं उस दिन लौटी क्यों—
कण-कण अपने को तुम्हें देकर रीत क्यों नहीं गयी?
तुमने तो उस रास की रात
जिसे अंशतः भी आत्मसात् किया
उसे सम्पूर्ण बना कर
वापस अपने अपने घर भेज दिया

पर हाय वही सम्पूर्णता तो
इस जिस्म के एक-एक कण में
बराबर टीसती रहती है,
तुम्हारे लिये!

कैसे हो जी तुम?
जब मैं जाना ही नहीं चाहती
तो बांसुरी के एक गहरे अलाप से
मदोन्मत्त मुझे खींच बुलाते हो

और जब वापस नहीं आना चाहती
तब मुझे अंशतः ग्रहण कर
सम्पूर्ण बना कर लौटा देते हो!

मंजरी-परिणय

आम्र-बौर का गीत

यह जो मैं कभी-कभी चरम साक्षात्कार के क्षणों में
बिलकुल जड़ और निस्पन्द हो जाती हूँ
इसका मर्म तुम समझते क्यों नहीं सांवरे!

तुम्हारी जन्मजन्मान्तर की रहस्यमयी लीला
की एकान्त-संगिनी मैं

इन क्षणों में अकस्मात्
तुम से पृथक् नहीं हो जाती मेरे प्राण,
तुम यह क्यों नहीं समझ पाते कि लाज
सिर्फ जिस्म की नहीं होती
मन की भी होती है
एक मधुर भय,
एक अनजाना संशय,
एक आग्रहभरा गोपन,
एक निर्व्याख्या वेदना; उदासी,
जो मुझे बार-बार चरमसुख के क्षणों में भी
अभिभूत कर लेती है।

भय, संशय, गोपन, उदासी
ये सभी ढीठ, चंचल, सरचढ़ी सहेलियों की तरह
मुझे घेर लेती हैं
और मैं कितना चाह कर भी तुम्हारे पास ठीक उसी समय
नहीं पहुँच पाती जब आम्र मंजरियों के नीचे
अपनी बाँसुरी में मेरा नाम भर कर तुम बुलाते हो !

उस दिन तुम उस बौर लदे आम की
झुकी डालियों से टिके कितनी देर मुझे वंशी से टेरते रहे
ढलते सूरज की उदास काँपती किरणें
तुम्हारे माथे के मोरपंखों
से बेबस विदा माँगने लगीं—
मैं नहीं आयी

गायें कुछ क्षण तुम्हें अपनी भोली आँखों से
मुँह उठाये देखती रहीं और फिर
धीरे-धीरे नन्दगाँव की पगडण्डी पर
बिना तुम्हारे अपने आप मुड़ गयीं—
मैं नहीं आयी

यमुना के घाट पर
मछुओं ने अपनी नावें बाँध दीं
और कन्धों पर पतवारें रख चले गये—
मैं नहीं आयी

तुमने वंशी होठों से हटा ली थी
और उदास, मौन, तुम आम्र-वृक्ष की जड़ों से टिककर बैठ गये थे
और बैठे रहे, बैठे रहे, बैठे रहे
मैं नहीं आयी, नहीं आयी, नहीं आयी

तुम अन्त में उठे
एक झुकी डाल पर खिला एक बौर तुमने तोड़ा
और धीरे-धीरे चल दिये
अनमने तुम्हारे पांव पगडण्डी पर चल रहे थे
पर जानते हो तुम्हारे अनजान में ही तुम्हारी उँगलियाँ क्या कर
रही थीं
वे उस आम्र मंजरी को चूर-चूर कर
श्यामल वनघासों में बिछी उस माँग सी उजली पगडंडी पर
बिखेर रही थीं · · ·

यह तुमने क्या किया प्रिय !
क्या अपने अनजाने में ही
उस आम के बौर से मेरी क्वांरी उजली पवित्र मांग
भर रहे थे साँवरे ?
पर मुझे देखो कि मैं उस समय भी तो माथा नीचा कर
इस अलौकिक सुहाग से प्रदीप्त होकर
माथे पर पल्ला डाल कर
झुक कर तुम्हारी चरणधूलि लेकर
तुम्हें प्रणाम करने—
नहीं आयी, नहीं आयी, नहीं आयी !

■ ■
पर मेरे प्राण
यह क्यों भूल जाते हो कि मैं वही
बावली लड़की हूं न जो—कदम्ब के नीचे बैठकर
जब तुम पोई की जंगली लतरों के पके फलों को

तोड़ कर, मसल कर, उनकी लाली से मेरे पाँवों को
महावर रचने के लिये अपनी गोद में रखते हो
तो मैं लाज से धनुष की तरह दोहरी हो जाती हूं
और अपने पांव पूरे बल से समेट कर खींच लेती हूं
अपनी दोनों बांहों में अपने घुटने कस
मुंह फेर कर निश्चल बैठ जाती हूं
पर शाम को जब घर आती हूं तो
निभृत एकान्त में दीपक के मंद आलोक में
अपने उन्हीं चरणों को
अपलक निहारती हूं
बावली सी उन्हें बार-बार प्यार करती हूं
जल्दी-जल्दी में अधबनी उन महावर की रेखाओं को
चारों ओर देखकर धीमे से
चूम लेती हूं।

◻ ◻ ◻

रात गहरा आयी है
और तुम चले गये हो
और मैं कितनी देर तक बांह से
उसी आम्र डाली को घेरे चुपचाप रोती रही हूं
जिस पर टिक कर तुम मेरी प्रतीक्षा करते हो

और मैं लौट रही हूं,
हताश, और निष्फल
और ये आम के टूटे बौर के कण-कण
मेरे पाँवों में बुरी तरह साल रहे हैं।

पर तुम्हें यह कौन बतायेगा साँवरे
कि देर ही में सही
पर मैं तुम्हारे पुकारने पर आ तो गयी
और माँग सी उजली पगडण्डी पर बिखरे
ये मंजरी-कण भी अगर मेरे चरणों में गड़ते हैं तो
इसीलिये न कि कितना लम्बा रास्ता
कितनी जल्दी-जल्दी पार कर मुझे आना पड़ा है
और काँटों और काँकरियों से
मेरे पाँव किस बुरी तरह घायल हो गये हैं!

यह कैसे बताऊं तुम्हें
कि चरम साक्षात्कार के ये अनूठे क्षण भी
जो कभी-कभी मेरे हाथ से छूट जाते हैं
तुम्हारी मर्म-पुकार जो कभी-कभी मैं नहीं सुन पाती
तुम्हारी भेंट का अर्थ जो नहीं समझ पाती
तो मेरे साँवरे लाज मन की भी होती है

एक अज्ञात भय,
अपरिचित संशय,
आग्रह भरा गोपन,
और सुख के क्षण
में भी घिर आने वाली निर्व्याख्या उदासी—

फिर भी उसे चीर कर
देर में ही आऊंगी प्राण,
तो क्या तुम मुझे अपनी लम्बी
चन्दन-बाँहों में भर कर बेसुध नहीं
कर दोगे ?

आम्र-बौर का अर्थ

अगर मैं आम के बौर का ठीक-ठीक
संकेत नहीं समझ पायी
तो भी इस तरह खिन्न मत हो
प्रिय मेरे !

कितनी बार जब तुमने अर्द्धोन्मीलित कमल भेजा
तो मैं तुरत समझ गयी कि तुमने मुझे संझा बिरियां बुलाया है
कितनी बार जब तुमने अँजुरी भर भर बेले के फूल भेजे
तो मैं समझ गयी कि तुम्हारी अँजुरियों ने
किसे याद किया है
कितनी बार जब तुमने अगस्त्य के दो
उजले कटावदार फूल भेजे
तो मैं समझ गयी कि
तुम फिर मेरे उजले कटावदार पाँवों में
—तीसरे पहर—टीले के पास वाले

सहकार की घनी छाँव में
बैठकर महावर लगाना चाहते हो :

आज अगर आम के बौर का संकेत नहीं भी
समझ पायी तो क्या इतना बड़ा मान ठान लोगे ?

मैं मानती हूं
कि तुमने अनेक बार कहा है :
"राधन् ! तुम्हारी शोख चंचल विचुम्बित पलकें तो
पगडण्डियां मात्र हैं :
जो मुझे तुम तक पहुंचा कर रीत जाती हैं।"

तुमने कितनी बार कहा है :
"राधन् ! ये पतले मृणाल सी तुम्हारी गोरी अनावृत बाँहें
पगडण्डियां मात्र हैं : जो मुझे तुम तक पहुंचा कर रीत
जाती हैं।"

तुमने कितनी बार कहा है :
"सुनो ! तुम्हारे अधर, तुम्हारी पलकें, तुम्हारी बाँहें, तुम्हारे
चरण, तुम्हारे अंग-प्रत्यंग, तुम्हारी सारी चम्पकवर्णी देह,
मात्र पगडण्डियां हैं जो
चरम साक्षात्कार के क्षणों में रहती ही नहीं—
रीत-रीत जाती हैं!"

हाँ चन्दन,
तुम्हारे शिथिल आलिंगन में
मैंने कितनी बार इन सबको रीतता हुआ पाया है

मुझे ऐसा लगा है
जैसे किसी ने सहसा इस जिस्म के बोझ से
मुझे मुक्त कर दिया है
और इस समय में शरीर नहीं हूं······
मैं मात्र एक सुगंध हूं—
आधी रात महकने वाले इन रजनीगंधा के फूलों
की प्रगाढ़, मधुर गन्ध——
आकारहीन, वर्णहीन, रूपहीन······

■ ■

मुझे नित नये शिल्प में ढालने वाले!
मेरे उलझे रूखे चन्दनवासित केशों में
पतली उजली चुनौती देती हुई मांग
क्या वह आखिरी पगडण्डी थी जिसे तुम रिता देना चाहते थे
इस तरह
उसे आम्र मंजरी से भर-भर कर;

मैं क्यों भूल गयी थी कि
मेरे लीलाबन्धु, मेरे सहज मित्र की तो पद्धति ही यह है
कि वह जिसे भी रिक्त करना चाहता है
उसे सम्पूर्णता से भर देता है।
यह मेरी माँग क्या मेरे तुम्हारे बीच की
अन्तिम पार्थक्य रेखा थी,
क्या इसीलिये तुमने उसे आम्र मंजरियों से
भर-भर दिया कि वह
भर कर भी ताज़ी, क्वांरी और रीती छूट जाय!

तुम्हारे इस अत्यंत रहस्यमय संकेत को
ठीक-ठीक न समझ मैं उसका लौकिक अर्थ ले बैठी
तो मैं क्या करूं,
तुम्हें तो मालूम है
कि मैं वही बावली लड़की हूं न
जो पानी भरने जाती है
तो भरे हुए घड़े में
अपनी चंचल आंखों की छाया देखकर
उन्हें कुलेल करती चटुल मछलियां समझ कर
बार-बार सारा पानी ढलका देती है!

सुनो मेरे मित्र
यह जो मुझमें, इसे, उसे, तुम्हें, अपने को—
कभी-कभी न समझ पाने की नादानी है न
इसे भी रोको मत
होने दो:
वह भी एक दिन हो होकर
रीत जायगी

और मान लो न भी रीते
और मैं ऐसी ही बनी रहूं तो
तो क्या?

मेरे हर बावलेपन पर
कभी खिन्न होकर, कभी अनबोला ठान कर, कभी हंस कर
तुम जो प्यार से अपनी बाँहों में कस कर
बेसुध कर देते हो
उस सुख को मैं छोड़ूं क्यों

करूंगी !
बार-बार नादानी करूंगी
तुम्हारी मुँहलगी, ज़िद्दी, नादान मित्र भी तो हूं न!

▫ ▪ ▫

आज इस निभृत एकांत में
तुमसे दूर पड़ी हूं मैं :
और इस प्रगाढ़ अन्धकार में
तुम्हारे चन्दन कसाव के बिना मेरी देहलता के
बड़े-बड़े गुलाब धीरे-धीरे टीस रहे हैं
और दर्द उस लिपि के अर्थ खोल रहा है
जो तुमने आम्र मंजरियों के अक्षरों में
मेरी मांग पर लिख दी थी

आम के बौर की महक तुर्श होती है—
तुमने अक्सर मुझमें डूब-डूब कर कहा है
कि वह मेरी तुर्शी है
जिसे तुम मेरे व्यक्तित्व में
विशेष रूप से प्यार करते हो!

आम का वह बौर
मौसम का पहला बौर था
अछूता, ताजा, सर्वप्रथम!
मैंने कितनी बार तुममें डूब-डूब कर कहा है
कि मेरे प्राण! मुझे कितना गुमान है
कि मैंने तुम्हें जो कुछ दिया है

वह सब अछूता था, ताज़ा था,
सर्वप्रथम प्रस्फुटन था

तो क्या तुम्हारे पास की डार पर खिली
तुम्हारे कन्धों पर झुकी
वह आम की ताज़ी, क्वांरी, तुर्श मंजरी मैं ही थी
और तुमने मुझसे ही मेरी मांग भरी थी !

यह क्यों मेरे प्रिय !
क्या इसलिये कि तुमने बार-बार यह कहा है
कि तुम अपने लिये नहीं
मेरे लिये मुझे प्यार करते हो

और क्या तुम इसी का प्रमाण दे रहे थे
जब तुम मेरे ही निजत्व को, मेरे ही आन्तरिक अर्थ को
मेरी मांग में भर रहे थे

और जब तुमने कहा कि "माथे पर पल्ला डाल लो !"
तो क्या तुम चिता रहे थे
कि अपने इसी निज़त्व को, अपने आंतरिक अर्थ को
मैं सदा मर्यादित रक्खूं, रसमय और
पवित्र रक्खूं
नववधू की भाँति !

हाय मैं सच कहती हूं
मैं इसे समझी नहीं; नहीं समझी; बिल्कुल नहीं समझी !
यह सारे संसार से पृथक् पद्धति का
जो तुम्हारा प्यार है न
इसकी भाषा समझ पाना क्या इतना सरल है
तिस पर मैं बावरी

जो तुम्हारे पीछे साधारण भाषा भी
इस हद तक भूल गयी हूं

कि श्याम ले लो ! श्याम ले लो !
पुकारती हुई हाट बाट में
नगर डगर में
अपनी हंसी कराती घूमती हूं !

फिर मैं
अगर अपनी मांग पर
आम के बौर की लिपि में लिखी भाषा
का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझ पायी
तो इसमें मेरा क्या दोष मेरे लीला-बन्धु !

आज इस निभृत एकांत में
तुमसे दूर पड़ी हूं
और तुम क्या जानो कैसे मेरे सारे जिस्म में
आम के बौर टीस रहे हैं
और उनकी अजीब सी तुर्श महक
तुम्हारा अजीब सा प्यार है
जो सम्पूर्णतः बांध कर भी
सम्पूर्णतः मुक्त छोड़ देता है !

छोड़ क्यों देता है प्रिय ?
क्या हर बार इस दर्द के नये अर्थ
समझने के लिये !

तुम मेरे कौन हो

तुम मेरे हो कौन कनु
मैं तो आज तक नहीं जान पायी

वार बार मुझसे मेरे मन ने
आग्रह से, विस्मय से, तन्मयता से पूछा है—
'यह कनु तेरा कौन है? बूझ तो!'

वार-बार मुझसे मेरी सखियों ने
व्यंग्य से, कटाक्ष से, कुटिल संकेत से पूछा है
'कनु तेरा कौन है री, बोलती क्यों नहीं?'

वार-बार मुझसे मेरे गुरुजनों ने
कठोरता से, अप्रसन्नता से, रोष से पूछा है:
'यह कान्ह आखिर तेरा है कौन?'

मैं तो आज तक कुछ नहीं बता पायी
तुम मेरे सचमुच कौन हो कनु!

अक्सर जब तुमने
माला गूंथने के लिये
कँटीले झाड़ों में चढ़-चढ़ कर मेरे लिये
श्वेत रतनारे करौंदे तोड़कर
मेरे आँचल में डाल दिये हैं
तो मैंने अत्यन्त सहज प्रीति से
गर्दन झटका कर
वेणी झुलाते हुए कहा है
'कनु ही मेरा एकमात्र अन्तरंग सखा है!'

अक्सर जब तुमने
दावाग्नि में, सुलगती डालियों
टूटते वृक्षों, हहराती हुई लपटों और
घुटते हुए धुंए के बीच
निरुपाय, असहाय, बावली सी भटकती हुई
मुझे
साहसपूर्वक अपने दोनों हाथों में
फूल की थाली सी सहेज कर उठा लिया
और लपटें चीर कर बाहर ले आये
तो मैंने आदर, आभार और प्रगाढ़ स्नेह से
भरे-भरे स्वर में कहा है:
'कान्ह मेरा रक्षक है, मेरा बन्धु है,
सहोदर है।'

अक्सर जब तुमने बंशी बजाकर मुझे बुलाया है
और मैं मोहित मृगी सी भागती चली आयी हूं
और तुमने मुझे अपनी बाँहों में कस लिया है
तो मैंने डूब कर कहा है:
'कनु मेरा लक्ष्य है, मेरा आराध्य, मेरा गन्तव्य!'

पर जब तुमने दुष्टता से
अक्सर सखी के सामने मुझे बुरी तरह छेड़ा है
तब मैंने खीज कर
आँखों में आंसू भर कर
शपथें खा-खा कर
सखी से कहा है :
'कान्हा मेरा कोई नहीं है, कोई नहीं है
मैं कसम खा कर कहती हूं
मेरा कोई नहीं है!'

पर दूसरे ही क्षण
जब घनघोर बादल उमड़ आये हैं
और बिजली तड़पने लगी है
और घनी वर्षा होने लगी है
और सारे वनपथ धुंधलाकर छिप गये हैं
तो मैंने अपने आँचल में तुम्हें दुबका लिया है
तुम्हें सहारा दे देकर
अपनी बाँहों में घेर कर गाँव की सीमा तक तुम्हें ले आई हूं
और सच-सच बताऊं तुझे कनु साँवरे!
कि उस समय मैं बिल्कुल भूल गयी हूं
कि मैं कितनी छोटी हूं
और तुम वही कान्हा हो
जो सारे वृन्दावन को
जलप्रलय से बचाने की सामर्थ्य रखते हो,
और मुझे केवल यही लगा है
कि तुम छोटे से शिशु हो
असहाय; वर्षा में भीग-भीग कर
मेरे आँचल में दुबके हुए

और जब मैंने सखियों को बताया कि
गाँव की सीमा पर
छितवन की छांह में खड़े होकर
ममता से मैंने अपने वक्ष में
उस छौने का ठण्डा माथा दुबका कर
अपने आँचल में उसके घने घुंघराले बाल पोंछ दिये
तो मेरे उस सहज उद्गार पर
सखियाँ क्यों कुटिलता से मुस्काने लगीं
यह मैं आज तक नहीं समझ पायी !

लेकिन जब तुम्हीं ने बन्धु
तेज से प्रदीप्त होकर इन्द्र को ललकारा है,
कालिय की खोज में विषैली यमुना को मथ डाला है
तो मुझे अकस्मात् लगा है
कि मेरे अंग-अंग से ज्योति फूटी पड़ रही है
तुम्हारी शक्ति तो मैं ही हूं
तुम्हारा सम्बल,
तुम्हारी योगमाया,
इस निखिल पारावार में मैं ही परिव्याप्त हूं
विराट,
सीमाहीन,
अदम्य,
दुर्दान्त;

किन्तु दूसरे ही क्षण
जब तुमने वेतसलता-कुंज में
गहराती हुई गोधूलि वेला में

आम के एक बौर को चूर-चूर कर धीमे से
अपनी चुटकी में भर कर
मेरे सीमंत पर बिखेर दिया
तो मैं हतप्रभ हो गयी
मुझे लगा कि इस निखिल पारावार में
शक्ति सी, ज्योति सी, गति सी
फैली हुई मैं
अकस्मात् सिमट आयी हूं
सीमा में बंध गयी हूं
ऐसा क्यों चाहा तुमने कान्ह?

पर जब मुझे चेत हुआ
तो मैंने पाया कि हाय सीमा कैसी
मैं तो वह हूं जिसे दिग्वधू कहते हैं, कालवधू---
समय और दिशाओं की सीमाहीन पगडण्डियों पर
अनन्त काल से
अनन्त दिशाओं में
तुम्हारे साथ-साथ चलती चली आ रही हूं, चलती
चली जाऊंगी.....
इस यात्रा का आदि न तो तुम्हें स्मरण है न मुझे
और अन्त तो इस यात्रा का है ही नहीं मेरे
सहयात्री!

पर तुम इतने निठुर हो
और इतने आतुर कि
तुमने चाहा है कि मैं इसी जन्म में
इसी थोड़ी सी अवधि में जन्मजन्मान्तर की

समस्त यात्राएं फिर से दोहरा लूं
और इसीलिये सम्बन्धों की इस घुमावदार पगडण्डी पर
क्षण-क्षण पर तुम्हारे साथ
मुझे इतने आकस्मिक मोड़ लेने पड़े हैं
कि मैं बिल्कुल भूल ही गयी हूं कि
मैं अब कहाँ हूं
और तुम मेरे कौन हो ?

और इस निराधार भूमि पर
चारों ओर से पूछे जाते हुए प्रश्नों की बौछार से
घबरा कर मैंने बार-बार
तुम्हें शब्दों के फूलपाश में जकड़ना चाहा है
सखा—बंधु—आराध्य—
शिशु—दिव्य—सहचर—
और अपने को नयी व्याख्याएं देनी चाही हैं
सखी—साधिका—बांधवी—
माँ—वधू—सहचरी—
और मैं बार-बार नये-नये रूपों में
उमड़-उमड़ कर
तुम्हारे तट तक आयी
और तुमने हरबार अथाह समुद्र की भांति
मुझे धारण कर लिया—
विलीन कर लिया—
फिर भी अकूल बने रहे

मेरे साँवले समुद्र
तुम आखिर हो मेरे कौन
मैं इसे कभी माप क्यों नहीं पाती ?

सृष्टि-संकल्प

सृजन-संगिनी

सुनो मेरे प्यार—

यह काल की अनन्त पगडण्डी पर
अपनी अनथक यात्रा तय करते हुए सूरज और चन्दा,
बहते हुए अंधड़
गरजते हुए महासागर
झकोरों में नाचती हुई पत्तियां
धूप में खिले हुए फूल, और
चाँदनी में सरकती हुई नदियां
इनका अंतिम् अर्थ आखिर है क्या?
केवल तुम्हारी इच्छा?

और वह क्या केवल तुम्हारा संकल्प है
जो धरती में सोंधापन बन कर व्याप्त है
जो जड़ों में रस बनकर खिंचता है
कोंपलों में फूटता है,
पत्तों में हरियाता है,
फूलों में खिलता है
फलों में गदरा आता है—

यदि इस सारे सृजन, विनाश, प्रवाह
और अविराम जीवन-प्रक्रिया का
अर्थ केवल तुम्हारी इच्छा है
तुम्हारा संकल्प,

तो ज़रा यह तो बताओ मेरे इच्छामय,
कि तुम्हारी इस इच्छा का,
इस संकल्प का—
अर्थ कौन है ?

कौन है वह
जिसकी खोज में तुमने
काल की अनन्त पगडण्डी पर
सूरज और चाँद को भेज रक्खा है

. . . .

कौन है जिसे तुमने
झंझा के उद्दाम स्वरों में पुकारा है

. . . .

कौन है जिसके लिये तुमने
महासागर की उत्ताल भुजाएं फैला दी हैं

कौन है जिसकी आत्मा को तुमने
फूल की तरह खोल दिया है
और कौन है जिसे
नदियों जैसे तरल घुमाव दे देकर
तुमने तरंग-मालाओं की तरह
अपने कण्ठ में, वक्ष पर, कलाइयों में
लपेट लिया है—

वह मैं हूं मेरे प्रियतम !
वह मैं हूं
वह मैं हूं

■ ■

और यह समस्त सृष्टि रह नहीं जाती
लीन हो जाती है
जब मैं प्रगाढ़ वासना, उद्दाम क्रीड़ा
और गहरे प्यार के बाद
थक कर तुम्हारी चन्दन-बाँहों में
अचेत बेसुध सो जाती हूं

यह निखिल सृष्टि लय हो जाती है

और मैं प्रसुप्त, संज्ञाशून्य,
और चारों ओर गहरा अन्धेरा और अथाह सूनापन—
और मजबूर होकर
तुम फिर, फिर उसी गहरे प्यार
को दोहराने के लिये
मुझे आधीरात जगाते हो

आहिस्ते से, ममता से—
और मैं फिर जागती हूं
संकल्प की तरह
इच्छा की तरह

और लो
वह आधीरात का प्रलयशून्य सन्नाटा
फिर
काँपते हुए गुलाबी जिस्मों
गुनगुने स्पर्शों
कसती हुई बाँहों
अस्फुट सीत्कारों
गहरी सौरभभरी उसाँसों
और अन्त में एक सार्थक शिथिल मौन से
आबाद हो जाता है
रचना की तरह
सृष्टि की तरह—

और मैं फिर थक कर सो जाती हूं
अचेत-संज्ञाहीन—
और फिर वही चारों ओर फैला
गहरा अन्धेरा और अथाह सूनापन
और तुम फिर मुझे जगाते हो!

और यह प्रवाह में बहती हुई
तुम्हारी असंख्य सृष्टियों का क्रम
महज़ हमारे गहरे प्यार
प्रगाढ़ विलास
और अतृप्त क्रीड़ा की अनन्त पुनरावृत्तियाँ हैं—

ओ मेरे स्रष्टा
तुम्हारे सम्पूर्ण अस्तित्व का अर्थ है
मात्र तुम्हारी सृष्टि

तुम्हारी सम्पूर्ण सृष्टि का अर्थ है
मात्र तुम्हारी इच्छा

और तुम्हारी सम्पूर्ण इच्छा का अर्थ हूं
केवल मैं !
केवल मैं !!
केवल मैं !!!

आदिम भय

अगर यह निखिल सृष्टि
मेरा ही लीलातन है
तुम्हारे आस्वादन के लिये—

अगर ये उत्तुंग हिमशिखर
मेरे ही-रुपहली ढलान वाले
गोरे कन्धे हैं—जिन पर तुम्हारा
गगन सा चौड़ा और साँवला और
तेजस्वी माथा टिकता है

अगर यह चांदनी में
हिलोरें लेता हुआ महासागर
मेरे ही निरावृत जिस्म का
उतार चढ़ाव है

अगर ये उमड़ती हुई मेघ घटाएं
मेरी ही बल खाती हुई वे अलकें है
जिन्हें तुम प्यार से बिखेर कर
अक्सर मेरे पूर्ण-विकसित
चन्दन-फूलों को
ढंक देते हो

अगर सूर्यास्त वेला में
पच्छिम की ओर झरते हुए ये
अजस्र-प्रवाही झरने
मेरी ही स्वर्ण-वर्णी जंघाएं है

और अगर यह रात मेरी प्रगाढ़ता है
और दिन मेरी हंसी
और फूल मेरे स्पर्श
और हरियाली मेरा आलिंगन

तो यह तो बताओ मेरे लीलाबन्धु
कि कभी कभी 'मुझे' भय क्यों लगता है ?

■ ■

अक्सर आकाशगंगा के
सूनसान किनारों पर खड़े होकर
जब मैंने अथाह शून्य में
अनन्त प्रदीप्त सूर्यों को

कोहरे की गुफाओं में पंख टूटे
जुगनुओं की तरह रेंगते देखा है
तो मैं भयभीत होकर
लौट आई हूं ....

क्यों मेरे लीलाबन्धु
क्या वह आकाशगंगा मेरी मांग नहीं है ?
फिर उसके अज्ञात रहस्य
मुझे डराते क्यों हैं ?

और अक्सर जब मैंने
चन्द्रलोक के विराट, अपरिचित, झुलसे
पहाड़ों की गहरी, दुर्लंघ्य घाटियों में
अज्ञात दिशाओं से उड़ कर आने वाले
धूम्रपुंजों को टकराते और
अग्निवर्णी करकापात से
वज्र की चट्टानों को
घायल फूल की तरह बिखरते देखा है
तो मुझे भय क्यों लगा है
और मैं लौट क्यों आयी हूं मेरे बन्धु !
क्या चन्द्रमा मेरे ही माथे का सौभाग्य-बिन्दु
नहीं है ?

और अगर ये सारे रहस्य मेरे हैं
और तुम्हारा संकल्प मैं हूं
और तुम्हारी इच्छा मैं हूं
और इस तमाम सृष्टि में मेरे अतिरिक्त

यदि कोई है तो केवल तुम, केवल तुम,
केवल तुम,
तो मैं डरती किससे हूं मेरे प्रिय!

और अगर यह चन्द्रमा मेरी उंगलियों के
पोरों की छाप है
और मेरे इशारे पर घटता और बढ़ता है
और अगर यह आकाशगंगा मेरे ही
केश-विन्यास की शोभा है
और मेरे एक इंगित पर इसके अनन्त
ब्रह्माण्ड अपनी दिशा बदल
सकते हैं—

तो मुझे डर किससे लगता है
मेरे बन्धु!

▫ ▫ ▫

कहाँ से आता है यह भय
जो मेरे इन हिमशिखरों पर
महासागरों पर
चन्दनवन पर
स्वर्णवर्णी झरनों पर
मेरे उत्फुल्ल लीलातन पर
कोहरे की तरह
फन फैला कर
गुंजलक बाँध कर बैठ गया है।

उद्दाम क्रीड़ा की वेला में
भय का यह जाल किसने फेंका है?

देखो न
इसमें उलझ कर मैं कैसे
शीतल चट्टानों पर निर्वसना जलपरी की तरह
छटपटा रही हूं
और मेरे भीगे केशों से
सिवार लिपटा है
और मेरी हथेलियों से
समुद्री पुखराज और पन्ने
छिटक गये हैं
और मैं भयभीत हूं!

सुनो मेरे बन्धु
अगर यह निखिल सृष्टि
मेरा लीलातन है
तुम्हारे आस्वादन के लिए,
तो यह जो भयभीत है—वह छायातन
किसका है?
किसलिये है—मेरे मित्र?

केलिसखी

आज की रात
हर दिशा में अभिसार के संकेत क्यों हैं?

हवा के हर झोंके का स्पर्श
सारे तन को झनझना क्यों जाता है?

और यह क्यों लगता है
कि यदि और कोई नहीं तो
यह दिगन्त-व्यापी अन्धेरा ही
मेरे शिथिल अधखुले गुलाबतन को
पी जाने के लिये तत्पर है

और ऐसा क्यों भान होने लगा है
कि ये मेरे पाँव, माथा, पलकें, होठ
मेरे अंग-अंग---जैसे मेरे नहीं हैं---
मेरे वश में नहीं हैं---बेबस
एक-एक घूंट की तरह
अँधियारे में उतरते जा रहे हैं
खोते जा रहे हैं
मिटते जा रहे हैं

और भय,
आदिम भय, तर्कहीन, कारणहीन भय जो
मुझे तुमसे दूर ले गया था, बहुत दूर—
क्या इसीलिये कि मुझे
दुगुने आवेग से तुम्हारे पास लौटा लावे
और क्या यह भय की ही काँपती उंगलियाँ हैं
जो मेरे एक-एक बन्धन को शिथिल
करती जा रही हैं
और मैं कुछ कह नहीं पाती !

मेरे अधखुले होंठ काँपने लगे हैं
और कण्ठ सूख रहा है
और पलकें आधी मुंद गयी हैं
और सारे जिस्म में जैसे प्राण नहीं हैं

मैंने कस कर तुम्हें जकड़ लिया है
और जकड़ती जा रही हूं
और निकट, और निकट
कि तुम्हारी साँसें मुझमें प्रविष्ट हो जांय
तुम्हारे प्राण मुझमें प्रतिष्ठित हो जांय
तुम्हारा रक्त मेरी मृतप्राय शिराओं में प्रवाहित होकर
फिर से जीवन संचरित कर सके—

और यह मेरा कसाव निर्मम है
और अन्धा, और उन्माद भरा; और मेरी बाँहें
नागवधू की गुंजलक की भाँति
कसती जा रही हैं
और तुम्हारे कन्धों पर, बाँहों पर, होंठों पर
नागवधू की शुभ्र दंत-पंक्तियों के नीले-नीले चिह्न
उभर आये हैं

और तुम व्याकुल हो उठे हो
धूप में कसे
अथाह समुद्र की उत्ताल, विक्षुब्ध
हहराती लहरों के निर्मम थपेड़ों से—
छोटे से प्रवाल-द्वीप की तरह
बेचैन—

. . . .
. . . .
. . . .
. . . .

■ ■

उठो मेरे प्राण
और काँपते हाथों से यह वातायन बन्द कर दो

यह बाहर फैला-फैला समुद्र मेरा है
पर आज मैं उधर नहीं देखना चाहती
यह प्रगाढ़ अन्धेरे के कण्ठ में झूमती
ग्रहों उपग्रहों और नक्षत्रों की
ज्योतिर्माला में ही हूं
और असंख्य ब्रह्माण्डों का
दिशाओं का, समय का
अनन्त प्रवाह में ही हूं
पर आज मैं अपने को भूल जाना चाहती हूं

उठो
और वातायन बन्द कर दो
कि आज अंधेरे में भी दृष्टियां जाग उठी हैं
और हवा का आघात भी मांसल हो उठा है
और मैं अपने से ही भयभीत हूं

■ □ ■

. . . .
. . . .

लो मेरे असमंजस!
अब मैं उन्मुक्त हूं
और मेरे नयन अब नयन नहीं हैं
प्रतीक्षा के क्षण हैं
और मेरी बांहें, बांहें नहीं हैं
पगडण्डियां हैं
और मेरा यह सारा
हल्का गुलाबी, गोरा, रुपहली धूपछांव
वाली सीपी जैसा जिस्म
अब जिस्म नहीं है—
सिर्फ एक पुकार है

.

उठो मेरे उत्तर!
और पट बन्द कर दो
और कह दो इस समुद्र से
कि इसकी उत्ताल लहरें द्वार से टकराकर लौट जांय

और कह दो दिशाओं से
कि वे हमारे कसाव में आज
घुल जांय

और कह दो समय के अचूक धनुर्धर से
कि अपने शायक उतार कर
तरकस में रख ले
और तोड़ दे अपना धनुष
और अपने पंख समेट कर द्वार पर चुपचाप
प्रतीक्षा करे—
जब तक मैं
अपनी प्रगाढ़ केलिकथा का अस्थायी विराम-चिह्न
अपने अधरों से
तुम्हारे वक्ष पर लिख कर, थक कर
शैथिल्य की बांहों में
डूब न जाऊं........

आओ मेरे अधैर्य!
दिशाएं घुल गयी हैं
जगत लीन हो चुका है
समय मेरे अलक-पाश में बंध चुका है
और इस निखिल सृष्टि के
अपार विस्तार में
तुम्हारे साथ मैं हूं—केवल मैं—

तुम्हारी अन्तरंग केलिसखी!

इतिहास

विप्रलब्धा

बुझी हुई राख, टूटे हुए गीत, डूबे हुए चांद,
रीते हुए पात्र, बीते हुए क्षण सा—
—मेरा यह जिस्म

कल तक जो जादू था, सूरज था, वेग था
तुम्हारे आश्लेष में

आज वह जूड़े से गिरे हुए बेले सा
टूटा है, म्लान है
दुगुना सूनसान है
बीते हुए उत्सव सा, उठे हुए मेले सा—

मेरा यह जिस्म—
टूटे खण्डहरों के उजाड़ अन्तःपुर में
छूटा हुआ एक साबित मणिजटित दर्पण सा—
आधी रात दंशभरा बाहुहीन
प्यासा सर्पीला कसाव एक
जिसे जकड़ लेता है
अपनी गुंजलक में :

अब सिर्फ मैं हूं, यह तन है, और याद है

खाली दर्पण में धुंधला सा एक प्रतिबिम्ब
मुड़-मुड़ लहराता हुआ
निज को दोहराता हुआ !
. . . .
. . . .

कौन था वह
जिसने तुम्हारी बांहों के आवर्त में
गरिमा से तन कर समय को ललकारा था !

कौन था वह
जिसकी अलकों में जगत की समस्त गति
बँध कर पराजित थी !

कौन था वह
जिसके चरम साक्षात्कार का एक गहरा क्षण
सारे इतिहास से बड़ा था, सशक्त था !

कौन था कनु, वह,
तुम्हारी बांहों में
जो सूरज था, जादू था, दिव्य था, मन्त्र था

अब सिर्फ मैं हूं, यह तन है, और याद है !

मन्त्र-पढ़े वाण से छूट गये तुम तो कनु,
शेष रही मैं केवल,
कांपती प्रत्यंचा सी

अब भी जो बीत गया,
उसी में बसी हुई
अब भी उन बांहों के छलावे में
कसी हुई
जिन रूखी अलकों में
मैंने समय की गति बांधी थी—
हाय उन्हीं काले नागपाशों से
दिन प्रतिदिन, क्षण प्रतिक्षण बार बार
डँसी हुई :

अब सिर्फ मैं हूं, यह तन है—
—और संशय है

—बुझी हुई राख में छिपी चिनगारी सा
रीते हुए पात्र की आखीरी बूंद सा
पाकर खो देने की व्यथाभरी गूंज सा . .

सेतु : मैं

नीचे की घाटी से
ऊपर के शिखरों पर
जिसको जाना था वह चला गया—
हाय मुझी पर पग रख
मेरी बांहों से
इतिहास तुम्हें ले गया !

सुनो कनु सुनो
क्या मैं सिर्फ एक सेतु थी तुम्हारे लिये
लीलाभूमि और युद्धक्षेत्र के
अलंघ्य अन्तराल में !

अब इन सूने शिखरों, मृत्यु-घाटियों में बने
सोने के पतले गुंथे तारों वाले पुल सा
निर्जन
निरर्थक
कांपता सा, यहां छूट गया—मेरा यह सेतु-जिस्म

—जिसको जाना था वह चला गया

उसी आम के नीचे

उस तन्मयता में
तुम्हारे वक्ष में मुंह छिपा कर
लजाते हुए
मैंने जो जो कहा था
पता नहीं उसमें कुछ अर्थ था भी या नहीं :

आम्र मंजरियों से भरी हुई मांग के दर्प में
मैंने समस्त जगत को
अपनी वेसुधी के
एक क्षण में लीन करने का
जो दावा किया था—पता नहीं
वह सच था भी या नहीं :

जो कुछ अब भी इस मन में कसकता है
इस तन में कांप कांप जाता है
वह स्वप्न था या यथार्थ
—अब मुझे याद नहीं
पर इतना जरूर जानती हूं
कि इस आम की डाली के नीचे
जहां खड़े होकर तुमने मुझे बुलाया था
अब भी मुझे आकर बड़ी शांति मिलती है

◻ ◻

न,
मैं कुछ सोचती नहीं
कुछ याद भी नहीं करती
सिर्फ मेरी अनमनी, भटकती अंगुलियां
मेरे अनजाने, धूल में तुम्हारा
वह नाम लिख जाती हैं
जो मैंने प्यार के गहनतम क्षणों में
खुद रक्खा था
और जिसे हम दोनों के अलावा
कोई जानता ही नहीं

और ज्योंही सचेत होकर
अपनी अंगुलियों की
इस धृष्टता को जान पाती हूं
चौंक कर उसे मिटा देती हूं

(उसे मिटाते दुख क्यों नहीं होता कनु !
क्या अब मैं केवल दो यन्त्रों का पुंज मात्र हूं ?
—दो परस्पर विपरीत यन्त्र—
उनमें से एक बिना अनुमति नाम लिखता है
दूसरा उसे बिना हिचक मिटा देता है !)

■ ■ ■

तीसरे पहर
चुपचाप यहां छाया में बैठती हूँ
और हवा ऊपर ताज़ी नरम टहनियों से,
और नीचे कपोलों पर झूलती मेरी रूखी अलकों
से खेल करती है
और मैं आंख मूंद कर बैठ जाती हूं

और कल्पना करना चाहती हूं कि
उस दिन बरसते में जिस छौने को
अपने आंचल में छिपा कर लाई थी
वह आज कितना, कितना, कितना महान हो गया है
लेकिन मैं कुछ नहीं सोच पाती
सिर्फ—
जहां तुमने मुझे अमित प्यार दिया था
वहीं बैठ कर कंकड़, पत्ते, तिनके, टुकड़े चुनती रहती हूं
तुम्हारे महान बनने में
क्या मेरा कुछ टूट कर बिखर गया है कनु !

वह सब अब भी
ज्यों का त्यों है
दिन ढले आम के नये बौरों का
चारों ओर अपना मायाजाल फेंकना
जाल में उलझ कर मेरा बेबस चले आना

नया है
केवल मेरा
सूनी मांग आना
सूनी मांग, शिथिल चरण, असमर्पिता
ज्यों का त्यों लौट जाना.........

उस तन्मयता में—आम्र मंजरी से सजी मांग को
तुम्हारे वक्ष में छिपा कर लजाते हुए
बेसुध होते होते
जो मैंने सुना था
क्या उसमें भी कुछ अर्थ नहीं था?

अमंगल छाया

घाट से आते हुए
कदम्ब के नीचे खड़े कनु को
ध्यानमग्न देवता समझ, प्रणाम करने
जिस राह से तू लौटती थी बावरी
आज उस राह से न लौट

उजड़े हुए कुंज
रौंदी हुई लताएं
आकाश पर छाई हुई धूल
क्या तुझे यह नहीं बता रही
कि आज उस राह से
कृष्ण की अठारह अक्षौहिणी सेनाएं
युद्ध में भाग लेने जा रही हैं!

आज उस पथ से अलग हट कर खड़ी हो
बावरी !
लताकुंज की ओट
छिपा ले अपने आहत प्यार को
आज इस गांव से
द्वारिका की युद्धोन्मत्त सेनाएं गुज़र रही हैं

मान लिया कि कनु तेरा
सर्वाधिक अपना है
मान लिया कि तू
उसकी रोम रोम परिचित है
मान लिया कि ये अगणित सैनिक
एक एक उसके हैं :
पर जान रख कि ये तुझे बिल्कुल नहीं जानते
पथ से हट जा बावरी

यह आम्रवृक्ष की डाल
उनकी विशेष प्रिय थी
तेरे न आने पर
सारी शाम इस पर टिक
उन्होंने वंशी में बार बार
तेरा नाम भर कर तुझे टेरा था—

आज यह आम की डाल
सदा सदा के लिए, काट दी जायगी
क्योंकि कृष्ण के सेनापतियों के
वायुवेगगामी रथों की
गगनचुम्बी ध्वजाओं में
यह नीची डाल अटकती है

और यह पथ के किनारे खड़ा
छायादार पावन अशोक-वृक्ष
आज खण्ड खण्ड हो जायगा तो क्या—
यदि ग्रामवासी, सेनाओं के स्वागत में
तोरण नहीं सजाते
तो क्या सारा ग्राम नहीं उजाड़ दिया जायगा?

दुख क्यों करती है पगली

क्या हुआ जो
कनु के ये वर्तमान अपने,
तेरे उन तन्मय क्षणों की कथा से
अनभिज्ञ हैं

उदास क्यों होती है नासमझ
कि इस भीड़-भाड़ में
तू और तेरा प्यार नितांत अपरिचित
छूट गये हैं,

गर्व कर बावरी!
कौन है जिसके महान प्रिय की
अठारह अक्षौहिणी सेनाएं हों?

एक प्रश्न

अच्छा, मेरे महान कनु,
मान लो कि क्षण भर को
मैं यह स्वीकार लूं
कि मेरे ये सारे तन्मयता के गहरे क्षण
सिर्फ भावावेश थे,
सुकोमल कल्पनाएं थीं
रंगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे—

मान लो कि
क्षण भर को
मैं यह स्वीकार लूं

कि
पाप-पुण्य, धर्माधर्म, न्याय-दण्ड
क्षमा-शीलवाला यह तुम्हारा युद्ध सत्य है—

तो भी मैं क्या करूं कनु,
मैं तो वही हूं
तुम्हारी बावरी मित्र
जिसे सदा उतना ही ज्ञान मिला
जितना तुमने उसे दिया

जितना तुमने मुझे दिया है अभी तक
उसे पूरा समेट कर भी
आस पास जाने कितना है तुम्हारे इतिहास का
जिसका कुछ अर्थ मुझे समझ नहीं आता है !

अपनी जमुना में
जहां घण्टों अपने को निहारा करती थी मैं
वहां अब शस्त्रों से लदी हुई
अगणित नौकाओं की पंक्ति रोज़ रोज़ कहां जाती है ?

धारा में बह बह कर आते हुए, टूटे रथ
जर्जर पताकाएं किसकी हैं ?

हारी हुई सेनाएं, जीती हुई सेनाएं
नभ को कंपाते हुए, युद्ध-घोष, क्रन्दन-स्वर,
भागे हुए सैनिकों से सुनी हुई
अकल्पनीय अमानुषिक घटनाएं युद्ध की
क्या ये सब सार्थक हैं ?

चारों दिशाओं से
उत्तर को उड़ उड़ कर जाते हुए
गृद्धों को क्या तुम बुलाते हो
(जैसे बुलाते थे भटकी हुई गायों को)

जितनी समझ तुमसे अब तक पाई है कनु,
उतनी बटोर कर भी
कितना कुछ है जिसका
कोई भी अर्थ मुझे समझ नहीं आता है

अर्जुन की तरह कभी
मुझे भी समझा दो
सार्थकता है क्या बन्धु ?

मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण
रंगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे—
तो सार्थक फिर क्या है कनु ?

शब्द : अर्थहीन

पर इस सार्थकता को तुम मुझे
कैसे समझाओगे कनु ?

शब्द, शब्द, शब्द,..........
मेरे लिये सब अर्थहीन हैं
यदि वे मेरे पास बैठकर
मेरे रूखे कुन्तलों में उंगलियां उलझाये हुए
तुम्हारे कांपते अधरों से नहीं निकलते

शब्द, शब्द, शब्द,.........
कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व......
मैंने भी गली गली सुने हैं ये शब्द
अर्जुन ने इनमें चाहे कुछ भी पाया हो
मैं इन्हें सुन कर कुछ भी नहीं पाती प्रिय,
सिर्फ राह में ठिठक कर
तुम्हारे उन अधरों की कल्पना करती हूं
जिनसे तुमने ये शब्द पहली बार कहे होंगे

—तुम्हारा सांवरा लहराता हुआ f
तुम्हारी किंचित मुड़ी हुई शंख-ग्रं
तुम्हारी उठी हुई चन्दन-बांहें
तुम्हारी अपने में डूबी हुई
अधखुली दृष्टि
धीरे धीरे हिलते हुए
तुम्हारे जादू भरे होंठ !

मैं कल्पना करती हूं कि
अर्जुन की जगह मैं हूं
और मेरे मन में मोह उत्पन्न हो गया है
और मैं नहीं जानती कि युद्ध कौन सा है
और मैं किसके पक्ष में हूं
और समस्या क्या है
और लड़ाई किस बात की है
लेकिन मेरे मन में मोह उत्पन्न हो गया है
क्योंकि तुम्हारे द्वारा समझाया जाना
मुझे बहुत अच्छा लगता है

और सेनाएं स्तब्ध खड़ी हैं
और इतिहास स्थगित हो गया है
और तुम मुझे समझा रहे हो············

कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व,
शब्द, शब्द, शब्द·····
मेरे लिये नितांत अर्थहीन है—
मैं इन सब के परे अपलक तुम्हें देख रही हूं
हर शब्द को अंजुरी बना कर
बूंद बूंद तुम्हें पी रही हूं
और तुम्हारा तेज
मेरे जिस्म के एक एक मूर्छित संवेदन को
धधका रहा है

और तुम्हारे जादू भरे होंठों से
रजनीगन्धा के फूलों की तरह टप टप शब्द झर रहे हैं
एक के बाद एक के बाद एक······

कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व ···
मुझ तक आते आते सब बदल गये हैं
मुझे सुन पड़ता है केवल
राधन्, राधन्, राधन्,

शब्द, शब्द, शब्द
तुम्हारे शब्द अगणित हैं कनु—संख्यातीत
पर उनका अर्थ मात्र एक है—

मैं,
मैं,
केवल मैं !

फिर उन शब्दों से
मुझी को
इतिहास कैसे समझाओगे कनु ?

समुद्र-स्वप्न

जिसकी शेषशय्या पर
तुम्हारे साथ युग युगों तक क्रीड़ा की है
आज उस समुद्र को मैंने स्वप्न में देखा कनु!

लहरों के नीले अवगुण्ठन में
जहां सिन्दूरी गुलाब जैसा सूरज खिलता था
वहां सैकड़ों निष्फल सीपियां छटपटा रही हैं
—और तुम मौन हो

मैंने देखा कि अगणित विक्षुब्ध विक्रान्त लहरें
फेन का शिरस्त्राण पहने
सिवार का कवच धारण किये
निर्जीव मछलियों के धनुष लिये
युद्धमुद्रा में आतुर हैं
—और तुम कभी मध्यस्थ हो
कभी तटस्थ
कभी युद्धरत

और मैंने देखा कि अन्त में तुम
थक कर
इन सबसे खिन्न, उदासीन, विस्मित और
कुछ कुछ आहत
मेरे कन्धों से टिक कर बैठ गये हो
और तुम्हारी अनमनी भटकती अंगुलियां
तट की गीली बालू पर
कभी कुछ, कभी कुछ लिख देती हैं
किसी उपलब्धि को व्यक्त करने के अभिप्राय
से नहीं;
मात्र अंगुलियों को ठण्डे जल में डुबोने का
क्षणिक सुख लेने के लिये!

आज उस समुद्र को मैंने स्वप्न में देखा कनु!

विषभरे फेन, निर्जीव सूर्य, निष्फल सीपियां, निर्जीव मछलियाँ...
—लहरें नियन्त्रणहीन होती जा रही हैं
और तुम तट पर बाँह उठा उठा कर कुछ कह रहे हो
पर तुम्हारी कोई नहीं सुनता, कोई नहीं सुनता!

अन्त में तुम हार कर, लौटकर, थक कर
मेरे वक्ष के गहराव में
अपना चौड़ा माथा रख कर
गहरी नींद में सो गये हो·········
और मेरे वक्ष का गहराव
समुद्र में बहता हुआ, बड़ा सा ताजा क्वाँरा, मुलायम गुलाबी
वटपत्र बन गया है

जिस पर तुम छोटे से छौने की भांति
लहरों के पालने में महाप्रलय के बाद सो रहे हो !

नींद में तुम्हारे होठ धीरे धीरे हिलते हैं
"स्वधर्म ! ···आखिर मेरे लिये स्वधर्म क्या है ?"
और लहरें थपकी देकर तुम्हें सुलाती हैं
"सो जाओ योगिराज···सो जाओ···निद्रा
समाधि है !"

नींद में तुम्हारे होठ धीरे धीरे हिलते हैं
"न्याय-अन्याय, सदसद्, विवेक-अविवेक—
कसौटी क्या है ? आखिर कसौटी क्या है ?"
और लहरें थपकी देकर तुम्हें सुला देती हैं
"सो जाओ योगेश्वर···जागरण स्वप्न है,
छलना है, मिथ्या है !"

तुम्हारे माथे पर पसीना झलक आया है
और होठ काँप रहे हैं
और तुम चौंक कर जाग जाते हो
और तुम्हें कोई भी कसौटी नहीं मिलती
और जूए के पांसे की तरह तुम निर्णय को फेंक देते हो
जो मेरे पैताने है वह स्वधर्म
जो मेरे सिरहाने है वह अधर्म·······

और यह सुनते ही लहरें
घायल सांपों सी लहर लेने लगती हैं
और प्रलय फिर शुरू हो जाती है

और तुम फिर उदास होकर किनारे बैठ जाते हो
और विषादपूर्ण दृष्टि से शून्य में देखते हुए
कहते हो :—"यदि कहीं उस दिन मेरे पैताने
दुर्योधन होता तो·············आह
इस विराट समुद्र के किनारे ओ अर्जुन, मैं भी
अबोध बालक हूं !"

आज मैंने समुद्र को स्वप्न में देखा कनु !

तट पर जल-देवदारुओं में
बार बार कण्ठ खोलती हुई हवा
के गूंगे झकोरे,
बालू पर अपने पगचिन्ह बनाने के करुण प्रयास में
बैसाखियों पर चलता हुआ इतिहास,
·······'लहरों में तुम्हारे श्लोकों से अभिमन्त्रित गाण्डीव
गले हुए सिवार सा उतरा आया है·······
और अब तुम तटस्थ हो और उदास

समुद्र के किनारे
नारियल के कुंज हैं
और तुम एक बूढ़े पीपल के नीचे चुपचाप बैठे हो
मौन, परिशमित, विरक्त
और पहली बार जैसे तुम्हारी अक्षय तरुणाई पर
थकान छा रही है !

और चारों ओर
एक खिन्न दृष्टि से देख कर
एक गहरी सांस लेकर
तुमने असफल इतिहास को
जीर्णवसन की भाँति त्याग दिया है

और इस क्षण
केवल अपने में डूबे हुए
दर्द से पके हुए
तुम्हें बहुत दिन बाद मेरी याद आयी है !

कांपती हुई दीप लौ जैसे
पीपल के पत्ते
एक एक कर बुझ गये

उतरता हुआ अँधियारा······

समुद्र की लहरें
अब तुम्हारी फैली हुई सांवरी शिथिल बांहें हैं
भटकती सीपियां तुम्हारे कांपते अधर

और अब इस क्षण तुम
केवल एक भरी हुई
पकी हुई
गहरी पुकार हो····

सब त्याग कर
मेरे लिये भटकती हुई············

समापन

क्या तुमने उस वेला मुझे बुलाया था कनु?
लो मैं सब छोड़ छाड़ कर आगयी!

इसीलिये तब
मैं तुममें बूँद की तरह विलीन नहीं हुई थी,
इसीलिये मैंने अस्वीकार कर दिया था
तुम्हारे गोलोक का
कालावधिहीन रास,

क्योंकि मुझे फिर आना था!

तुमने मुझे पुकारा था न
मैं आगयी हूं कनु !

और जन्मान्तरों की अनन्त पगडण्डी के
कठिनतम मोड़ पर खड़ी होकर
तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूं ;
कि, इस बार इतिहास बनाते समय
तुम अकेले न छूट जाओ !

सुनो मेरे प्यार !
प्रगाढ़ केलिक्षणों में अपनी अन्तरंग
सखी को तुमने बांहों में गूंथा
पर उसे इतिहास में गूंथने से हिचक क्यों गये प्रभु ?

बिना मेरे कोई भी अर्थ कैसे निकल पाता
तुम्हारे इतिहास का
शब्द, शब्द, शब्द,·····
राधा के बिना
सब
रक्त के प्यासे
अर्थहीन शब्द !

सुनो मेरे प्यार !
तुम्हें मेरी जरूरत थी न, लो मैं सब छोड़कर आगयी हूं
ताकि कोई यह न कहे
कि तुम्हारी अन्तरंग केलिसखी
केवल तुम्हारे सांवरे तन के नशीले संगीत की
लय बन कर रह गयी······

मैं आगयी हूं प्रिय !
मेरी वेणी में अग्निपुष्प गूंथने वाली
तुम्हारी अंगुलियां
अब इतिहास में अर्थ क्यों नहीं गूंथती ?

तुमने मुझे पुकारा था न !

मैं पगडण्डी के कठिनतम मोड़ पर
तुम्हारी प्रतीक्षा में
अडिग खड़ी हूं कनु मेरे !